अदम्य

नई चेतना, नए स्वर – मासिक अंक | जुलाई 2026

सिनेमा विमर्श

Joyland: परिवार, पितृसत्ता और मौन का सिनेमाई प्रतिरोध

एक ऐसी फिल्म जो परिवार, पितृसत्ता और मौन के बीच दबे मानवीय सच को संवेदनशीलता से सामने लाती है।

संपादक - विशेक
सह-संपादक - आरती
प्रूफरीडर - शिखा शिप्रा
सोशल मीडिया प्रभारी - अखिलेश कुमार

•

आवरण पृष्ठ - रोशनी

•

विज्ञापन शुल्क

Full Pagen Rs. 400
Half Pagen Rs. 200
Qtr. Pagen Rs. 100
Back Cover n'Rs. 700- (four colour)
Inside Front n'Rs. 500- (four colour)
Inside Back n'Rs. 400- (four colour)

•

- पत्रिका पूर्णत: अवैतनिक और अव्यावसायिक है।
- अदम्य पत्रिका में प्रकाशित लेखों में आए विचार लेखकों के निजी हैं जिनसे संपादकीय सहमति अनिवार्य नहीं है।
- अंक में प्रकाशित सामग्री के पुनर्प्रकाशन के लिए लिखित अनुमति अनिवार्य है।
- अदम्य पत्रिका से जुड़े सभी विवादास्पद मामले केवल दिल्ली न्यायालय के अधीन हैं।

•

संपर्क करें

ईमेल आईडी
adamyapatrika@gmail.com

वेबसाइट
adamyapatrika.in

अनुक्रम

संपादकीय

छूटते हुए पैरों की बाबत — विशेक (3)

लेख

जागरूकता की कला — मानसी आनंद (5)

कविता

घर वापसी — अवेद्य आलोक (8)

कहानी

कजरौटे का सफर — ममता त्यागी (9)

लघुकथा

जोंक — शैलेन्द्र चौहान (15)

सिनेमा विमर्श

Joyland : परिवार, पितृसत्ता और मौन का सिनेमाई प्रतिरोध — रिद्धि (18)

पुस्तक समीक्षा

सपनों की उम्र और सरकारी नौकरी: सरकारी चाय के लिए — पुष्पेंद्र सिंह (22)

क्लासिक गोल्डमाइन

कीप द ऐस्पिडिस्ट्रा फ़्लाइंग — जॉर्ज ऑरवेल (अदम्य चयन) (24)

संपादकीय

छूटते हुए पैरों की बाबत

विशेक

संपादक, अदम्य पत्रिका

> “साहित्य केवल पढ़ा नहीं जाता, वह मनुष्य के भीतर धीरे-धीरे अपना स्थान भी बनाता है। शायद इसी कारण कुछ यात्राएँ समाप्त होकर भी समाप्त नहीं होतीं।”

यह लिखते हुए मुझे बेहद हर्ष की अनुभूति हो रही है कि यह संपादकीय पूर्व प्रकाशित अंकों की भाँति किसी विशेष विषय, घटना या संदर्भ की बात नहीं करेगा। इस बार मैं किसी विमर्श की भूमिका नहीं लिख रहा हूँ, बल्कि उस अनुभव को शब्द देने का प्रयास कर रहा हूँ, जिससे शायद हर संपादक कभी न कभी होकर गुजरता है। यह संपादकीय किसी निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए नहीं, बल्कि एक अनुभूति को महसूस करने के लिए लिखा जा रहा है।

जब आप बतौर संपादक संपादन की प्रक्रिया से होकर गुजरते हैं, तब केवल रचनाओं का संपादन नहीं करते, बल्कि स्वयं भी एक यात्रा पर निकल पड़ते हैं। इस यात्रा में मस्तिष्क पटल पर कई प्रकार के बिंब बनने लगते हैं। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि संपादन की प्रक्रिया में आप अनेक रचनाओं, अनेक दृष्टियों और अनेक अनुभवों से होकर गुजरते हैं। प्रत्येक रचना अपने भीतर एक संसार लेकर आती है। कुछ रचनाएँ प्रश्न छोड़ जाती हैं, कुछ स्मृतियाँ, कुछ मौन और कुछ ऐसे विचार जो देर तक मन में बने रहते हैं। धीरे-धीरे ये सब मिलकर भीतर एक नया परिदृश्य रचने लगते हैं।

मुझे कई बार ऐसा लगता है कि ये बिंब किसी छूटते हुए पैर की भाँति होते हैं। जैसे कोई यात्री बहुत दूर निकल गया हो, लेकिन उसके पैरों की छाप अभी भी मिट्टी पर बाकी हो। यात्रा समाप्त हो जाती है, पर उसके पदचिह्न कुछ समय तक हमारे साथ चलते रहते हैं। संपादन भी कुछ ऐसा ही है। रचना

अपने लेखक के पास लौट जाती है, अंक प्रकाशित हो जाता है, लेकिन उसकी छाप संपादक के भीतर बनी रहती है। यही छूटी हुई छापें बार-बार यह एहसास कराती हैं कि हम अपने भीतर कितनी यात्राएँ कर चुके हैं, कितने लोगों के अनुभवों से होकर गुज़रे हैं और कितनी संवेदनाओं को बिना जिए भी महसूस किया है।

मुझे लगता है कि साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता भी यही है कि वह केवल पढ़ा नहीं जाता, बल्कि धीरे-धीरे हमारे भीतर अपना स्थान बना लेता है। कई बार कोई कहानी समाप्त होने के बाद भी समाप्त नहीं होती। कोई कविता अपने अंतिम शब्द के बाद भी हमारे भीतर चलती रहती है। कोई विचार महीनों बाद अचानक स्मृति में लौट आता है। शायद यही वे छापें हैं जो हमें लगातार बदलती रहती हैं और बिना शोर किए हमारी दृष्टि को थोड़ा और व्यापक बना देती हैं।

अदम्य पत्रिका के जुलाई अंक के संपादन कार्य से गुजरते हुए यह अनुभूति पहले की अपेक्षा और अधिक गहरी हुई है। इस अंक की प्रत्येक रचना ने अपने पीछे कोई न कोई छाप अवश्य छोड़ी है। कहीं परिवार का मौन है, कहीं मनुष्य की आत्म-खोज, कहीं साहित्य का आत्मविश्वास और कहीं जीवन को देखने का एक नया कोण। संपादन का कार्य पूरा हो चुका है, लेकिन उन रचनाओं की उपस्थिति अब भी भीतर बनी हुई है। शायद इसी कारण यह अंक मेरे लिए केवल प्रकाशित पृष्ठों का संग्रह नहीं, बल्कि अनेक समानांतर यात्राओं का एक साझा पड़ाव है।

यह खूबसूरती शायद उन्हीं छूटते हुए पैरों की है, जो आगे बढ़ते हुए भी पीछे अपनी पहचान छोड़ जाते हैं। अदम्य का प्रत्येक नया अंक भी मेरे लिए ऐसी ही एक यात्रा है। एक यात्रा जो हर महीने कुछ नए पदचिह्न छोड़ती है, कुछ नए प्रश्न देती है और कुछ नई स्मृतियाँ अपने साथ जोड़ लेती है। यह सिलसिला यूँ ही चलता रहे, यही इच्छा है। क्योंकि अंततः मनुष्य अपनी मंज़िलों से कम और उन पदचिह्नों से अधिक पहचाना जाता है, जिन्हें वह अपनी यात्रा में पीछे छोड़ जाता है।

लेख

जागरूकता की कला

मानसी आनंद
फ्रीलांसर

> “जो जीवन हमें दिखाई देता है, वह किसी व्यक्ति का संपूर्ण जीवन नहीं, बल्कि उसका चुना हुआ हिस्सा होता है। आत्म-जागरूकता हमें इस भ्रम से बाहर निकलकर स्वयं को समझना सिखाती है।”

आत्म-जागरूकता केवल एक गुण नहीं, बल्कि स्वयं को समझने की एक सतत प्रक्रिया है। हम अक्सर दूसरों को समझने, उनके व्यवहार का मूल्यांकन करने और उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होने में अपना बहुत समय लगा देते हैं, लेकिन स्वयं को समझने के लिए शायद ही कभी ठहरते हैं। जबकि मनुष्य की सबसे महत्वपूर्ण मुलाकात वही होती है, जो वह अपने भीतर उतरकर स्वयं से करता है। स्वयं को जानना किसी भी बाहरी उपलब्धि से कम महत्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि यही वह आधार है जिस पर हमारे विचार, निर्णय और जीवन की दिशा निर्मित होती है।

आज के समय में अध्यात्म केवल पूजा-पाठ या धार्मिक अनुष्ठानों तक सीमित नहीं रह गया है। अपने विचारों, भावनाओं, भय, असुरक्षाओं और कमजोरियों को ईमानदारी से स्वीकार कर पाना भी अध्यात्म का ही एक रूप है। आत्म-जागरूकता हमें अपने भीतर झाँकने का साहस देती है। यह हमें बताती है कि हम वास्तव में कौन हैं, हमारी सीमाएँ क्या हैं और हमारी संभावनाएँ कहाँ तक जाती हैं। जब मनुष्य स्वयं को समझना शुरू करता है, तभी वह अपने जीवन के निर्णय भी अधिक स्पष्टता और आत्मविश्वास के साथ लेने लगता है।

सोशल मीडिया के इस दौर में, जहाँ लगभग प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन का सबसे सुंदर पक्ष दुनिया के सामने प्रस्तुत कर रहा है, वहाँ अपने वास्तविक स्वरूप के साथ बने रहना पहले से कहीं अधिक

कठिन हो गया है। प्रतिदिन हम दूसरों की सफलताओं, यात्राओं, उपलब्धियों और खुशियों को देखते हैं। धीरे-धीरे यह दृश्य हमारे भीतर एक मौन तुलना को जन्म देता है। हम अनजाने में यह मानने लगते हैं कि किसी और जैसा होना ही शायद बेहतर होना है। इसी प्रक्रिया में कई बार हम अपनी मौलिकता से दूर होने लगते हैं और अपनी पहचान को दूसरों की स्वीकृति में खोजने लगते हैं। हम यह भूल जाते हैं कि जो जीवन हमें दिखाई देता है, वह किसी व्यक्ति का संपूर्ण जीवन नहीं, बल्कि उसका चुना हुआ हिस्सा होता है। फिर भी हम उसी अधूरे चित्र के आधार पर अपने पूरे जीवन का मूल्यांकन करने लगते हैं। परिणामस्वरूप हमारे भीतर असंतोष, हीनता और स्वयं को बदलने की बेचैनी जन्म लेने लगती है। आत्म-जागरूकता हमें इस भ्रम से बाहर निकलना सिखाती है और यह समझने में सहायता करती है कि हमारी सबसे बड़ी जिम्मेदारी किसी और जैसा बनना नहीं, बल्कि स्वयं को समझना है।

दूसरों से सीखना गलत नहीं है। किसी के अच्छे विचार, अनुशासन, व्यवहार और अनुभव हमारे विकास में सहायक हो सकते हैं। समाज में रहकर सीखना मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। लेकिन केवल इसलिए स्वयं को बदल देना कि हम किसी और जैसे दिखाई दें या स्वीकार किए जाएँ, शायद आत्म-विकास नहीं, बल्कि आत्म-विस्मृति की शुरुआत है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी गति, अपनी परिस्थितियाँ और अपनी यात्रा होती है। तुलना कभी भी दो व्यक्तियों के बीच समान आधार पर नहीं होती, इसलिए वह हमें प्रेरित करने के बजाय कई बार भीतर से कमजोर कर देती है।

आज सफलता को देखने और मापने के अनेक तरीके बन गए हैं। कभी नौकरी, कभी लोकप्रियता, कभी आर्थिक स्थिति और कभी सामाजिक पहचान को सफलता का पैमाना मान लिया जाता है। ऐसे में यदि हम स्वयं को इन बाहरी मानकों के आधार पर ही परखते रहेंगे, तो शायद कभी संतुष्ट नहीं हो पाएँगे। आत्म-जागरूकता हमें यह समझने में मदद करती है कि सफलता की हमारी अपनी भी एक परिभाषा हो सकती है, जो किसी और की परिभाषा से अलग होने पर भी उतनी ही सार्थक है।

जीवन की भागदौड़ में हम अक्सर अपने भीतर की आवाज़ सुनना ही भूल जाते हैं। शोर, व्यस्तता और निरंतर उपलब्धियों की दौड़ हमें इतना घेर लेती है कि कुछ समय अपने साथ बिताना भी कठिन लगने लगता है। कई बार अकेले रहना हमें असहज करता है, क्योंकि उस एकांत में हमारा सामना हमारे ही प्रश्नों, अधूरेपन और उन भावनाओं से होता है जिन्हें हम लंबे समय से टालते आए हैं। परंतु शायद यही एकांत हमें सबसे अधिक ईमानदारी से स्वयं के सामने खड़ा करता है। इसी एकांत में हम अपने डर को पहचानते हैं, अपनी इच्छाओं को सुनते हैं और उन निर्णयों पर पुनर्विचार करते हैं जिन्हें अब तक केवल परिस्थितियों के कारण स्वीकार कर लिया था। यह प्रक्रिया आसान नहीं होती, लेकिन यहीं से आत्म-समझ का वास्तविक मार्ग खुलता है। जो व्यक्ति अपने साथ कुछ समय बिताना सीख जाता है, वह धीरे-धीरे बाहरी शोर से कम और अपनी आंतरिक स्पष्टता से अधिक प्रभावित होने लगता है।

जीवन में एक समय ऐसा अवश्य आता है जब परिस्थितियाँ हमें रुकने के लिए विवश कर देती हैं। किसी असफलता, किसी टूटन, किसी रिश्ते या किसी गहरे अनुभव के बाद हम अपने जीवन को नए दृष्टिकोण से देखने लगते हैं। वही क्षण आत्म-जागरूकता की शुरुआत भी बन सकता है। तब हम यह

समझने लगते हैं कि किन बातों को बदलना आवश्यक है, किन बातों को स्वीकार करना चाहिए और किन अपेक्षाओं का बोझ हमें छोड़ देना चाहिए। धीरे-धीरे हमारे निर्णय दूसरों की स्वीकृति के बजाय हमारी अपनी समझ पर आधारित होने लगते हैं।

आत्म-जागरूकता का अर्थ स्वयं को बदल देना नहीं, बल्कि स्वयं को सत्य रूप में पहचानना है। जब हम अपनी कमियों को स्वीकार करते हुए अपनी क्षमताओं को भी समझने लगते हैं, तब भीतर एक संतुलन विकसित होता है। यह संतुलन हमें अधिक धैर्यवान, अधिक संवेदनशील और अधिक स्वतंत्र बनाता है। स्वयं को जानने वाला व्यक्ति दूसरों को भी अधिक सहजता से स्वीकार कर पाता है, क्योंकि वह तुलना के बजाय समझ को महत्व देने लगता है।

अंततः, स्वयं को समझ लेना जीवन के सभी प्रश्नों का उत्तर नहीं देता, लेकिन उन प्रश्नों को देखने का दृष्टिकोण अवश्य बदल देता है। शायद आत्म-जागरूकता की सबसे बड़ी विशेषता भी यही है कि वह हमें किसी और जैसा बनने की नहीं, बल्कि स्वयं का बेहतर रूप बनने की दिशा दिखाती है। जब मनुष्य अपने भीतर लौटना सीख जाता है, तब बाहरी दुनिया का शोर उसे पहले की तरह विचलित नहीं करता। और संभवतः यही वह अवस्था है जहाँ से एक अधिक सजग, अधिक संतुलित और अधिक अर्थपूर्ण जीवन की शुरुआत होती है। जीवन में परिस्थितियाँ बदलती रहेंगी, लोग आएँगे और चले जाएँगे, सफलताएँ और असफलताएँ भी साथ चलेंगी। लेकिन यदि मनुष्य स्वयं के प्रति जागरूक बना रहता है, तो वह हर परिवर्तन के बीच भी अपनी पहचान और अपने संतुलन को बनाए रख सकता है। शायद यही आत्म-जागरूकता की सबसे बड़ी उपलब्धि है कि वह हमें दुनिया से पहले स्वयं के प्रति ईमानदार होना सिखाती है।

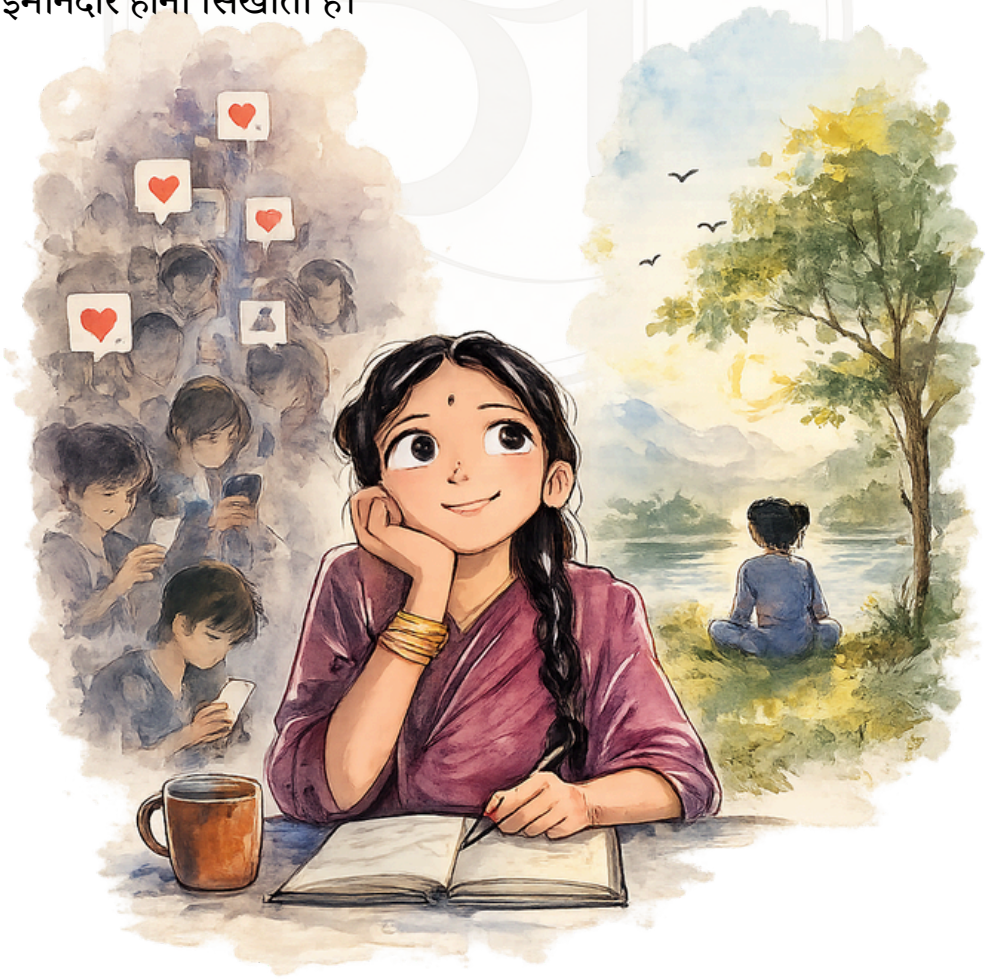

कविता

घर वापसी

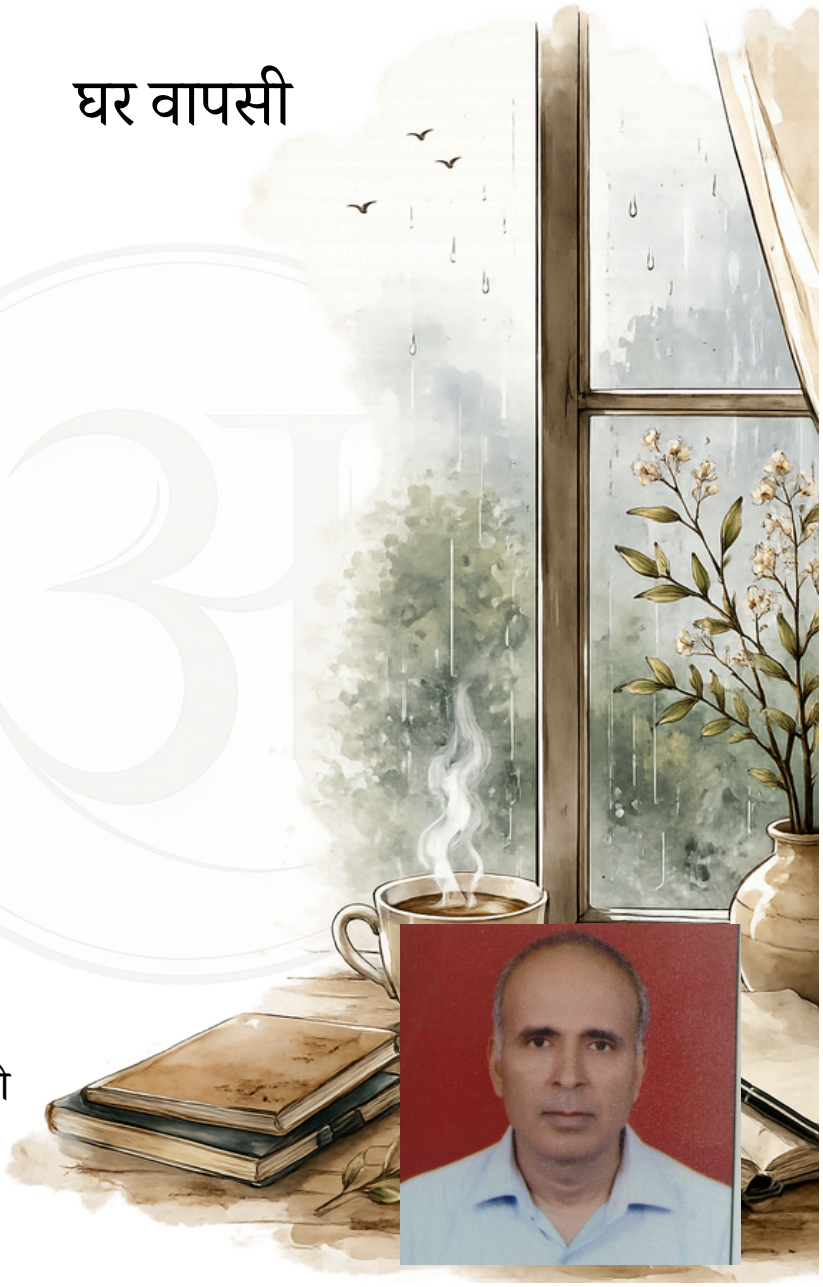

बरगद पीपल आम ही क्यों
बोनसाई होने लगे हैं
घर कमरे कपड़े
दूरियाँ, कहनियाँ, किलकारियाँ
रुदन - प्रहसन, प्रसव - वेदनाएं
अरूणिमा की चहचहाहट
गोधूलि में पैरों की छटपटाहट।

हाँ जो बोनसाई नहीं हो पाएं
वे हैं पताकाएँ
हरे सांपों सी लपलपाती
आदमी को भीड़ बनाती
भीड़ से इतर आवाजें घोंटती
आदमी के विस्तार को कम करती।

जहां जीने की शर्त बोनसाई होना हो
वैसी दुनिया में
झुक कर चलने का अभिनय
बहुत देर तक नहीं कर सकता।
मुझे लौटना है मेरे गाँव
जहां मेरे हर आवाज की यात्रा होती थी पूरी।

अवेद्य आलोक
सहायक अनुभाग अधिकारी, वित्त मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली

कहानी

कजरौटे का सफर

ममता त्यागी
नार्थ कैरोलाइना
अमेरिका

> “काजल अब सूख चुका था, पर उस छोटी-सी डिबिया में एक माँ का स्नेह अब भी सुरक्षित था।”

‘सत्तू की माँ, ला रोटी ले आ।’
घर में घुसते ही किसन ने आवाज़ लगाई।
‘आ जाओ, मैं तो थारी ही बाट देख री सी।’
‘आज क्या राँध लिया? खुशबू तो बड़ी बढ़िया आ री है।’
‘दाल अर गोभी की सब्ज़ी बनाई है, आ जाओ जीम लो।’
‘ला दे, बड़ी भूख लग री है।’
सुनहरी ने थाली में गरम-गरम रोटियाँ, दाल और गोभी की सब्ज़ी परोसी। घड़े से पानी का लोटा भरकर सामने रखा और पास बैठकर पंखा झलने लगी। किसन बड़े चाव से खाना खाने लगा।
‘आज तो खाने में बड़ा स्वाद है। तू भी बड़ी खुश लग री है।’
सुनहरी मुस्कुरा तो दी, पर चेहरे पर एक अनकही बात बार-बार उभरकर दब जा रही थी। वह कई बार बोलने को हुई, फिर रुक गई।
‘ला, एक रोटी होर दे... अर गुड़ की डली भी।’
सुनहरी रसोई में गई। लौटते हुए उसने मन ही मन ठान लिया कि आज बात कहे बिना नहीं रहेगी। रोटी रखते हुए धीमे स्वर में बोली - ‘सुनो जी... आज सत्तू का फ़ोन आया था।’